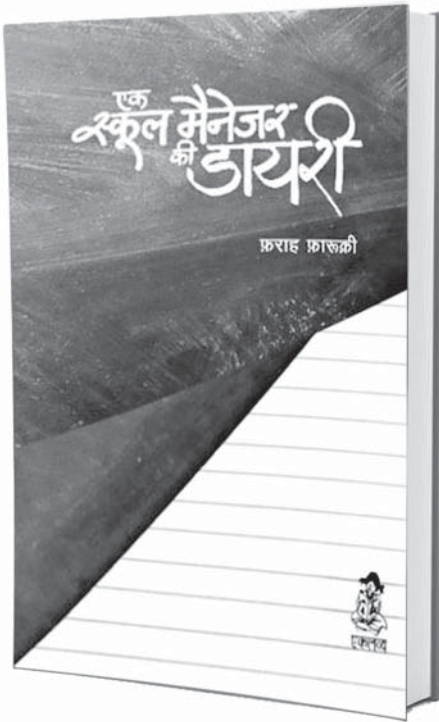


स्कूली जिन्दगी की हकीकतों को उजागर करती किताब एक स्कूल मैनेजर की डायरी

सहीद मेव

फ़राह फ़ारूकी द्वारा लिखी गई *एक स्कूल मैनेजर की डायरी* किताब सम्भवतः पहली किताब है जो गरीब और पिछड़े मुस्लिम अल्पसंख्यक समुदाय के बच्चों की जिन्दगी के बारे में किए गए शोध अध्ययन को हिन्दुस्तानी जुबान में सामने लाती है। प्रस्तुत समीक्षा किताब के अध्यायों की मुख्य बातों को रेखांकित करती है और पूरी किताब की एक झलक प्रस्तुत करती है। सं.



एक स्कूल मैनेजर की डायरी

लेखिका : फ़राह फ़ारूकी

एकलव्य फ़ाउण्डेशन, भोपाल

भारत के भाग्य का निर्माण इस समय उसकी कक्षाओं में हो रहा है' यह वाक्य था कोटारी कमीशन रिपोर्ट (1966) का, जिसने भारत में स्कूली शिक्षा को सुधारने के लिए 'कॉमन स्कूल सिस्टम' और देश की जीडीपी का छः फ़ीसदी हिस्सा शिक्षा पर खर्च करने जैसे कई अहम सुझाव दिए। मक़सद था— स्कूली शिक्षा की राष्ट्र निर्माण में मज़बूत हिस्सेदारी दर्ज कराना और सामाजिक असमानता को कम करना। लेकिन सरकार की उदासीनता, ख़ासकर 90 के दशक के बाद शिक्षा के बढ़ते व्यवसायीकरण और ख़ुदगर्ज़ राजनीति के कारण, ज़्यादातर सरकारी स्कूल सामाजिक असमानता और हाशियाकरण के पर्याय बनते चले गए।

फ़राह फ़ारूकी की किताब *एक स्कूल मैनेजर की डायरी* स्कूली शिक्षा के माध्यम से हो रहे हाशियाकरण और असमानता की बारीकियों का परत-दर-परत व प्रासंगिक चित्रण प्रस्तुत करती है। लेखिका ने बहुत ही बेबाक़ अन्दाज़ में अकादमिक दायरों के परे जाकर स्कूल की सामाजिक व्यवस्था, आड़े आते धर्म और राजनीतिक मूल्य, हाशिए पर धकेले जा रहे गरीब और पिछड़े मुस्लिम अल्पसंख्यक समुदाय के बच्चों की जिन्दगी के बहुत सारे

अनछुए पहलुओं का आसान हिन्दुस्तानी जुबान में पुख्ता सबूतों के साथ दार्शनिक वर्णन किया है। लेखिका का शोध केन्द्र 1913 में स्थापित पुरानी दिल्ली स्थित सरकारी मदद से चलने वाला एक सीनियर सेकेंडरी स्कूल है। दरअसल, लेखिका 2009 से 2014 तक, जामिया मिल्लिया इस्लामिया की देखरेख में चलने वाले इस स्कूल की मैनेजर रही हैं। लेखिका के अनुसार, इनकी डायरी, जो किताब के रूप में प्रकाशित हुई, की शुरुआत शोध करने से नहीं बल्कि स्कूल को समझने और सबके साथ मिलकर स्कूल की बेहतरी के लिए बदलाव लाने से हुई' (पृ. 6-7)। इस किताब में कुल सत्रह अध्याय हैं जिनमें लेखिका स्कूल की कार्यप्रणाली, बच्चों व माँ-बाप का ज़िन्दगी और शिक्षा के लिए संघर्ष, अध्यापक व प्रबन्धन की ज़िम्मेदारियों, शिक्षा विभाग के रवैए, स्थानीय राजनीति और अल्पसंख्यक समुदाय की भावनाओं, उनके डर और हौसलों का सरल व स्पष्ट चित्रण करती हैं।

पहले और दूसरे अध्याय में लेखिका ने स्कूल की कार्यप्रणाली और दिनचर्या में लिप्त सत्ता, असमानता और ख़ुदगर्ज़ी का वर्णन किया है। ग़रीब, मज़दूर और अल्पसंख्यक मुसलमान बच्चों को हाशिए पर धकेल दिया जाता है क्योंकि वो सत्ता के कमज़ोर और निचले पायदान पर होते हैं। स्कूल में नियम-क़ानून बनने में बच्चों को केन्द्र में न रखना, नौकरशाही और लालफ़ीताशाही, आपसी तालमेल की कमी, ज़ेड व व्यावसायिक असमानता, लोकतंत्र और संवाद की कमी, आदि संस्था को सुचारु रूप से चलाने में आड़े आते हैं, जबकि परिवारों में स्कूल जाने वाली पहली पीढ़ी के छात्रों को विशेष सुविधाओं, सहायता और देखरेख की ज़रूरत होती है, ताकि इनके

सपनों को साकार होने में मदद मिल सके। तीसरे अध्याय में लेखिका ने घरेलू सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों, बाज़ार और कारोबार में फ़ौसी बच्चों की ज़िन्दगी का भी सटीक वर्णन किया है। लेखिका ने नौवीं और दसवीं कक्षा के बच्चों के विभिन्न प्रकार के अनौपचारिक समूहों की बात की है जिनके ज़रिए बच्चे अपनी शरारत, मस्ती, आपसी मदद और ख़ुद के होने का अहसास हासिल करते हैं (अध्याय चार और पाँच)। लड़कियों के लिए असहज माहौल और विकल्पों की कमी, स्वार्थी राजनीतिक माहौल और सामाजिक जकड़न को भी बयान किया है। लेखिका ने अल्पसंख्यक स्कूल में होने वाली



पहले और दूसरे अध्याय में लेखिका ने स्कूल की कार्यप्रणाली और दिनचर्या में लिप्त सत्ता, असमानता और ख़ुदगर्ज़ी का वर्णन किया है। ग़रीब, मज़दूर और अल्पसंख्यक मुसलमान बच्चों को हाशिए पर धकेल दिया जाता है क्योंकि वो सत्ता के कमज़ोर और निचले पायदान पर होते हैं।



धार्मिक शिक्षा (अनौपचारिक तौर पर ही सही), इससे जुड़ी नैतिकता, और इसके सही व ग़लत ठहराने को सामाजिक सन्दर्भ में देखने की बात कही है। साथ ही उन्होंने यह डर भी ज़ाहिर किया है कि 'धर्म की दी हुई नैतिकता की चपेट में आकर कहीं बच्चे स्कूल में होने वाले अन्याय के खिलाफ़ आवाज़ उठाना बन्द न कर दें, या फिर धर्म कहीं कट्टरपन का रूप न धारण कर ले और धार्मिक शिक्षा से जुड़े बच्चे धर्म के ठेकेदार न बन बैठें'। साथ ही मौजूदा स्कूल में धार्मिक

शिक्षा दिए जाने की एक सम्भावित ख़ूबी की तरफ़ संकेत करते हुए लेखिका यह भी कहती हैं कि 'शायद स्कूल का सन्दर्भ उन्हें (बच्चों को) कभी एक मौक़ा दे कि वो धर्म को सामाजिक विज्ञान या विज्ञान के चश्मे से आँक सकें' (पृ. 106)।

लेखिका ने विभिन्न प्रकार की धारणाओं और रूढ़िवादी सोच, जिनके तहत शिक्षक बच्चों का और बच्चे आपस में एक दूसरे का चित्रण करते हैं, की भी बात की है (अध्याय छः)। कुछ शिक्षक बच्चों को बेकार और नालायक करार

देते हुए उनका 'निचली क्रिस्म के, जानवर, बंजर ज़मीन, सरकारी भीख पर पलने वाले पर फिर भी शैतान, गली के कीड़े जैसे जुमलों से न केवल चित्रण करते हैं, बल्कि इनके घर-परिवार को भी कमतर मानते हैं। ग़लत धारणाओं का यह सिलसिला बच्चों में भी देखने को मिलता है जो अन्दरूनी तौर पर एक बँटे हुए समाज, इसमें पनपी असमानताओं और इसके हाशियाई होने को दर्शाता है। फ़िल्मों में मुसलमानों का चित्रण, नौकरियाँ मिलने में मुश्किलों का सामना करना, अन्दरूनी तौर पर शिया-सुन्नी में बँटे होना, बिहार वाले, दिल्ली वाले, मोहल्लों को लेकर रूढ़िवादी धारणाएँ, हिन्दी और अँग्रेज़ी माध्यम में शिक्षा से जुड़ी सोच बच्चों की स्कूली ज़िन्दगी, दिनचर्या और इनके सपनों को प्रभावित करती है। लेखिका अपने शोध कार्य के दौरान कुछ सुनहरे पलों का उल्लेख करते हुए यह भी कहती हैं कि ऐसा भी नहीं है कि हर तरफ़ अँधेरा ही छाया हुआ है। कुछ हमदर्द शिक्षकों के साथ मिलकर कई बच्चे अपने सपनों को साकार करने की तरफ़ क़दम बढ़ाते हुए भी नज़र आए लेकिन 'घेटो में दबी ज़िन्दगी' और सत्ता की राजनीति में तंत्र की मदद के बिना कामयाबी कितनी मिल पाएगी, यह कहना मुश्किल है।

लेखिका स्कूल के संचालन से जुड़ी विभिन्न तरह की कमेटियों, जैसे— अनुशासन कमेटी, जेंडर कमेटी और स्कूल कैलेंडर की बारीकियों पर भी नज़र डालती हैं। वह बताती हैं कि बच्चों के बारे में शिक्षकों की धारणाएँ, बग़ैर सन्दर्भ और बच्चों की हिस्सेदारी के बनाए गए नियम-क़ानून, अनुशासन के नाम पर मशीनी तरीक़े से बच्चों को नियंत्रित करना और उन्हें एकतरफ़ा दोषी ठहराने के चलते किसी भी अच्छे बदलाव

की कामना करना बेमानी है (अध्याय सात, आठ और नौ)। जेंडर से जुड़ी असमानताएँ, जैसे— लड़कियों के लिए पर्दा, पवित्रता की धारणा, लड़कियों को ही ग़लत ठहराना, मर्दानगी एवं औरतपन की बाइनरी, और यौनशोषण, स्कूली दिनचर्या का हिस्सा होती हैं जो लड़कियों के लिए शालात्यागी होने और जल्दी शादी करने जैसे अवांछित परिणामों के रूप में हाशियाबन्दी का कारण बनती हैं।

लेखिका कुछ चुनिन्दा केस स्टडीज़ के ज़रिए ग़रीब अल्पसंख्यक वर्ग से आए बच्चों की चुनौती भरी ज़िन्दगी, पाठ्यक्रम से इनकी उदासीनता और शिक्षा तंत्र के ग़ैर-ज़िम्मेदाराना रवैए का वर्णन करती हैं (अध्याय दस)। बच्चे और माता-पिता के बनते बिगड़ते सपने और जोश ख़रोश, व्यवसायीकरण की शिकार होती शिक्षा, मजबूरियों में दबा कुचला और ख़त्म होता बचपन, समाज और तंत्र के उत्पीड़ित करने वाले रवैए को सामने रखते हुए लेखिका कहती हैं कि 'कभी लगता है कि बच्चे हारी हुई दौड़ में शामिल हैं। यह दौड़ क्या इन्हें सिर्फ़ छोटा या बड़ा पुर्जा ही बनाएगी?' (पृ. 220)। कमज़ोर

शिक्षणशास्त्र, कुछ शिक्षकों की नासमझी और सत्ता की असीमित ताक़त के सामने स्कूल एक असहाय संस्था ही नज़र आता है जिसमें मौजूदा 'सामाजिक-आर्थिक आख्यान ने जगह बना ली है' (अध्याय ग्यारह और बारह)। कक्षा में जाने के लिए (कुछ) शिक्षकों की नाकाफ़ी तैयारी, समीक्षात्मक समझ (क्रिटिकल अंडरस्टैंडिंग) व सटीक उदाहरणों की कमी, सन्दर्भ और लोकतांत्रिक माहौल की अनदेखी कक्षा की दयनीय हालत को दर्शाती है। दरअसल ख़ुद शिक्षक भी कई तरह के पूर्वाग्रह, सियासत के दाँव-पेंच, सत्ता की विचारधारा और असर



लेखिका अपने

शोध कार्य के दौरान

कुछ सुनहरे पलों का उल्लेख करते हुए यह भी कहती हैं कि ऐसा भी नहीं है कि हर तरफ़ अँधेरा ही छाया हुआ है। कुछ हमदर्द शिक्षकों के साथ मिलकर कई बच्चे अपने सपनों को साकार करने की तरफ़ क़दम बढ़ाते हुए भी नज़र आए लेकिन 'घेटो में दबी ज़िन्दगी' और सत्ता की राजनीति में तंत्र की मदद के बिना कामयाबी कितनी मिल पाएगी, यह कहना मुश्किल है।

को समझने की कमी से जूझते नज़र आते हैं। अन्ततः, स्कूल बच्चों को ढाँचों पर सवाल उठाने के क्राबिल नहीं बना पाता है बल्कि 'शिक्षक खुद सत्ता के दबाव में चुप्पी की जुबान सीखे हुए नज़र आते हैं (पृ. 239-241)। ज़ाहिर है फिर स्कूल समाज को बदलने वाले इरादे के रूप में कैसे काम कर सकेगा? कमज़ोर और मूर्त संस्था के तौर पर तो 'स्कूल इन गरीब, मज़दूर, मुसलमान बच्चों की उँगलियों को खुद इनके लहू में डुबोने का काम अंजाम देता है' (पृ. 240)। कक्षा में बच्चों को मुजरिम करार देना, कौशल, शिष्टता और सभ्यता की कमी का अहसास कराना, ताने व सज़ा देना और क्राबू में करना आम-सी बात है जो दरअसल विद्यार्थियों पर शिक्षकों और शिक्षा तंत्र के मज़बूत शिकंजे को ही दर्शाते हैं। बच्चों को इस तंत्र में क़ैद, बेबस और विभिन्न पूर्वाग्रहों का शिकार देखकर लेखिका कहती हैं, 'कभी तो लगता है कि या तो हम शिक्षा संस्थानों में ताले लगा दें जहाँ हम शिक्षक की सत्ता और उससे जुड़ी आज़ादी के आगे ढेरों बच्चों को क़ैद करके बैठा देते हैं कि इनकी सोच, यक़ीन और ज़हनियत के साथ जो चाहे खिलवाड़ कर लो। या फिर अपने शिक्षक तैयार करने वाले कार्यक्रमों को समझें और बदलें' (पृ. 261)।

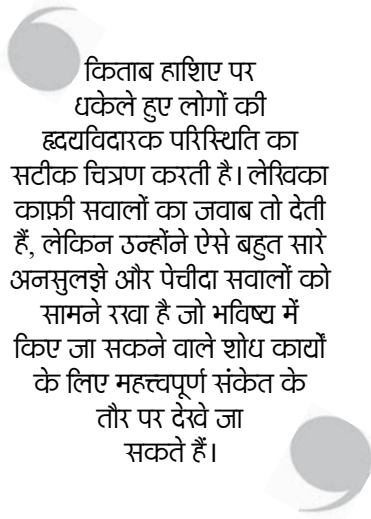
लेखिका ने स्कूल को इसके आसपास बसी बस्तियों, मोहल्लों और बिरादरियों के परिप्रेक्ष्य में भी समझने की कोशिश की है (अध्याय तेरह)। स्कूल अकसर बिरादरियों की आपसी रंजिश, अफ़वाहों, आर्थिक असमानताओं, स्थानीय राजनीति और संसाधनों के ग़लत इस्तेमाल का भी शिकार होता है। अध्याय चौदह 'हाशिए पर इल्म और बच्चे, क्या ज़िम्मेदार है मूल्यांकन' में लेखिका कहती हैं कि हम 'पढ़ाने के धिसे-पिटे

ढरें पर चलकर, जिसको साइंस का जामा पहना देते हैं, बच्चों के तजुर्बे, ख्याल और कल्पनाओं की उड़ान को जगह न देकर बच्चों की दक्षताओं और कौशल का गला घोट देते हैं, और हाशिए के लोगों के इल्म को भी हाशिए पर डाल देते हैं' (पृ. 285)। सत्ता की ताक़त व पेचीदगियाँ, सियासत और आपसी रंजिश बच्चों की स्कूली ज़िन्दगी को तो प्रभावित करती ही है, ऊपर से अल्पसंख्यक होने का बोझ, घेतों की ज़िन्दगी और डर का माहौल सपने देखने और इन्हें पूरा करने की राह को और ज़्यादा पेचीदा बना देते हैं (अध्याय पन्द्रह, सोलह और सत्रह)। इस माहौल से निपटने के अपने निजी अनुभव को साझा

करते हुए लेखिका कहती हैं कि लोगों को हिम्मत व सहारा देकर, और इनकी तनकीद व तजवीज़ को अहमियत देकर स्कूल में बदलाव सम्भव हो सके। आपसी प्यार और रस्नेह के रिश्तों ने एक अच्छी टीम बनाने का मौक़ा दिया जिससे तंत्र को लचीला और लोकतांत्रिक बनाने में मदद मिली। इसकी वजह से एक दूसरे से सीखने-सिखाने और काम करने को बल मिला। इसी बदलाव के चलते लोगों में हिस्सेदारी और ज़िम्मेदारी लेने की हिम्मत आई (पृ.

311)। तर्क, ज़मीनी और अनौपचारिक रिश्तों, एक दूसरे के लिए आदर, सद्भाव और बराबरी के अहसास ने बदलाव की दिशा और दशा को सम्भव बनाया। लेखिका कहती हैं शायद छोटे-छोटे बदलाव, तरकीबें और सभी को साथ लेकर चलने से बड़े ढाँचाई बदलाव लाने की राह आसान की जा सकती है।

अन्ततः किताब अकादमिक मानकों, जैसे-थ्योरी और पूर्व साहित्य की समीक्षा के उचित स्थान को दरकिनार तो करती है लेकिन पुख्ता सबूतों के आधार पर संकलित की गई है। किताब



किताब हाशिए पर धकेले हुए लोगों की हृदयविदारक परिस्थिति का सटीक चित्रण करती है। लेखिका काफ़ी सवालों का जवाब तो देती हैं, लेकिन उन्होंने ऐसे बहुत सारे अनसुलझे और पेचीदा सवालों को सामने रखा है जो भविष्य में किए जा सकने वाले शोध कार्यों के लिए महत्वपूर्ण संकेत के तौर पर देखे जा सकते हैं।

हाशिए पर धकेले हुए लोगों की हृदयविदारक परिस्थिति का सटीक चित्रण करती है। लेखिका काफ़ी सवालों का जवाब तो देती हैं, लेकिन उन्होंने ऐसे बहुत सारे अनसुलझे और पेचीदा सवालों को सामने रखा है जो भविष्य में किए जा सकने वाले शोध कार्यों के लिए महत्त्वपूर्ण

संकेत के तौर पर देखे जा सकते हैं। उम्मीद है कि पुख्ता सबूतों पर आधारित स्कूली ज़िन्दगी की वास्तविक बारीकियों को उजागर करती यह किताब, अध्यापकों, छात्रों, नीति निर्माताओं और आम जन, शिक्षा के मुद्दों में दिलचस्पी रखने वालों, आदि सभी के लिए लाभदायक सिद्ध होगी।

सहीद मेव, समाजशास्त्र विभाग, मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी (मानु), हैदराबाद में सहायक प्रोफ़ेसर के पद पर कार्यरत हैं। शिक्षा के समाजशास्त्र पर उनकी ख़ासी रुचि है। इनकी शोध और अन्य रचनाएँ *सोशल एक्शन*, *इंडियन एन्थ्रोपोलोजिस्ट*, *स्कॉल इन*, *केफ़े डीसेन्सस*, *दा न्यू लीम* जैसी मैगज़ीन में प्रकाशित हो चुकी हैं। उर्दू जुबान में लिखी उनकी किताब *क्लासिकी समाजशास्त्र नज़रियात* (2021) मानु से प्रकाशित होने वाली है।

सम्पर्क : saheedmeo@gmail.com

फ़राह फ़ारूकी जामिया मिल्लिया इस्लामिया की फैकल्टी ऑफ़ एजुकेशन में प्रोफ़ेसर हैं। वह *एनसीएफ़ 2005* के बाद बच्चों की पर्यावरण अध्ययन की पाठ्यपुस्तकों की मुख्य सलाहकार रही हैं। इसके अलावा उन्होंने एनसीईआरटी के साथ शिक्षकों के लिए भी कई किताबें लिखी हैं। उनके लेख *ईपीडब्ल्यू*, *आईआईसी क्वार्टरली*, *संदर्भ*, *शिक्षा विमर्श* और विदेश की पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुए हैं।

सम्पर्क : ffarooqui@jmi.ac.in